दैनिक जागरण
नदी का प्रवाह तभी बनता है जब वह किनारों में बंधकर बहती है

कोलेजियम पर सही सवाल

उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति की मौजूदा कोलेजियम व्यवस्था को लेकर राज्यसभा में सवाल उठने पर हैरानी नहीं। हैरानी तो तब होती जब संसद कोलेजियम को लेकर मौन धारण किए रहती, लेकिन इससे भी संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता कि उच्च सदन में शून्य काल के दौरान यह मांग उठी कि उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों का चयन अखिल भारतीय परीक्षा के जरिये किया जाए। यह अच्छा हुआ कि इस मसले पर विभिन्न दलों के सांसदों की दिलचस्पी को देखते हुए राज्यसभा के सभापति वेंकैया नायडू ने यह कहा कि न्यायपालिका, विधायिका एवं कार्यपालिका के अधिकारों और सीमाओं पर व्यापक चर्चा करने की जरूरत है। वास्तव में इस पर केवल व्यापक चर्चा ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि ऐसी कोई व्यवस्था भी बननी चाहिए जिससे उस दोषपूर्ण कोलेजियम से छुटकारा मिले जिसके तहत न्यायाधीश ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हैं। ऐसा किसी लोकतांत्रिक देश में नहीं होता। ऐसा केवल भारत में ही होता है और वह भी तब जब खुद सुप्रीम कोर्ट यह स्वीकार कर चुका है कि कोलेजियम व्यवस्था दोषपूर्ण है। कायदे से इस स्वीकारोक्ति के बाद या तो इस व्यवस्था के दोष दूर किए जाने चाहिए थे या फिर न्यायाधीशों की नियुक्ति की नई व्यवस्था बननी चाहिए थी। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में से किसी को यह बताना चाहिए कि ऐसा अब तक क्यों नहीं हो सका है? यह लोकतांत्रिक मूल्यों और मर्यादाओं के अनुकूल नहीं कि न्यायाधीश अपने उत्तराधिकारियों की नियुक्तियां खुद करें।

निःसंदेह यह सुखद नहीं रहा कि मोदी सरकार ने अपने पहले कार्यकाल में संविधान संशोधन के जरिये जिस राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग का गठन किया था उसे सुप्रीम कोर्ट ने असंवैधानिक ठहरा दिया। इस फैसले से इस आयोग के गठन के लिए की गई लंबी कवायद व्यर्थ साबित हुई। यह संभव है कि इस आयोग के कुछ प्रावधान न्यायसंगत न रहे हों, लेकिन क्या यह बेहतर नहीं होता कि उन्हें सुसंगत बनाने पर जोर दिया जाता? कम से कम अब तो यह काम किया ही जाना चाहिए। इसलिए और भी, क्योंकि कोलेजियम व्यवस्था के तहत होने वाली नियुक्तियों को लेकर सवाल उठते ही रहते हैं। चूंकि यह व्यवस्था पारदर्शी नहीं इसलिए सवाल कुछ ज्यादा ही उठते हैं। जहां तक निचली अदालतों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का गठन किए जाने की मांग है तो इसका समय आ चुका है। सच तो यह है कि अब तक इस सेवा का गठन हो जाना चाहिए था। अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के गठन के साथ ही कोलेजियम व्यवस्था को दुरुस्त करने का काम प्राथमकिता के आधार पर किया जाना चाहिए। ऐसा करते समय यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि न्यायिक तंत्र में सुधार के लिए और भी कई कदम उठाने की जरूरत है, क्योंकि लोगों को समय पर न्याय सुलभ नहीं हो रहा है। भारत सरीखे लोकतांत्रिक देश में इससे बड़ी विडंबना और कोई नहीं हो सकती कि लोग अदालत का दरवाजा खटखटाने के पहले इसे लेकर आशंकित रहें कि उन्हें वहां से समय पर न्याय मिलेगा या नहीं? आज ऐसी ही स्थिति है। जब तक यह स्थिति बनी रहती है, न्यायपालिका सवालों से घिरी रहेगी।

रुके भीड़ की हिंसा

झारखंड में लगातार हो रही मॉब लिंचिंग की घटनाओं ने एक बार फिर यह सोचने को विवश किया है कि सरकार और पुलिस-प्रशासन से लेकर पूरे समाज को इसे रोकने पर गंभीरता से विचार करना होगा। यूं देखें तो भीड़ की हिंसा एक क्षणिक उन्मादी प्रवृत्ति है जिसे किसी एक घटना की प्रतिक्रिया में सामूहिक रूप से अंजाम दिया जाता है। झारखंड में अभी सरायकेला में तबरेज अंसारी की चोरी के आरोप में पिटाई के बाद मौत का मामला थमा भी नहीं था कि गिरिडीह, हजारीबाग, रामगढ़ और फिर सरायकेला में भी ऐसी घटनाएं लगातार हुईं। शनिवार को गिरिडीह के बगोदर में हुई घटना में तो हिंसा के शिकार व्यक्ति को बचाने गई पुलिस पर भी भीड़ ने पथराव कर दिया। इससे पहले रामगढ़ में दो साल पहले अलीमुद्दीन अंसारी को भीड़ ने प्रतिबंधित मांस ले जाने के आरोप में पीट-पीट कर मार डाला था। वहीं सरायकेला में बच्चा चोरी के आरोप में भी कुछ लोगों की पीट-पीट कर हत्या कर दिए जाने के मामले सामने आए थे। हाल की घटनाओं से पता चलता है कि भीड़ किसी एक कारण से उग्र नहीं होती। कभी सामान चोरी के कारण तो कभी बच्चा चोरी के कारण और कभी किसी युवक-युवती के प्रेम संबंध के कारण तो कभी गोरक्षा और प्रतिबंधित मांस के नाम पर ये घटनाएं हो रही हैं। झारखंड में तो डायन-बिसाही के नाम पर अंधविश्वास में मार डालने की भी घटनाएं आम हैं। कारण चाहे जो भी हों, लेकिन इस तरह कि घटनाएं सभ्य समाज के लिए अच्छी नहीं मानी जा सकतीं। हमें किसी को मारने का अधिकार नहीं। साथ ही यह भी कि ऐसा करना गंभीर अपराध है। एक ओर जहां भावनाएं भड़काकर इस तरह की घटनाओं को हवा देने वालों को चिन्हित कर उन्हें कड़ी सजा देने की जरूरत है वहीं लोगों को भी जागरूक करना होगा। अपराधी को पुलिस के हवाले कर कानून के तहत उसे सजा दिलाने की प्रवृत्ति आम लोगों में विकसित करने के लिए सरकार और पुलिस-प्रशासन को बड़े पैमाने पर जागरूकता अभियान चलाना चाहिए।

वक्त की जरूरत है निजीकरण

डॉ. भरत झुनझुनवाला

एयर इंडिया के निजीकरण के विरोध में दिए जा रहे तर्क कहीं टिकते नहीं। सरकार को चाहिए कि इस नीति को सभी सार्वजनिक उपक्रमों खासतौर से बैंकों पर भी लागू करे

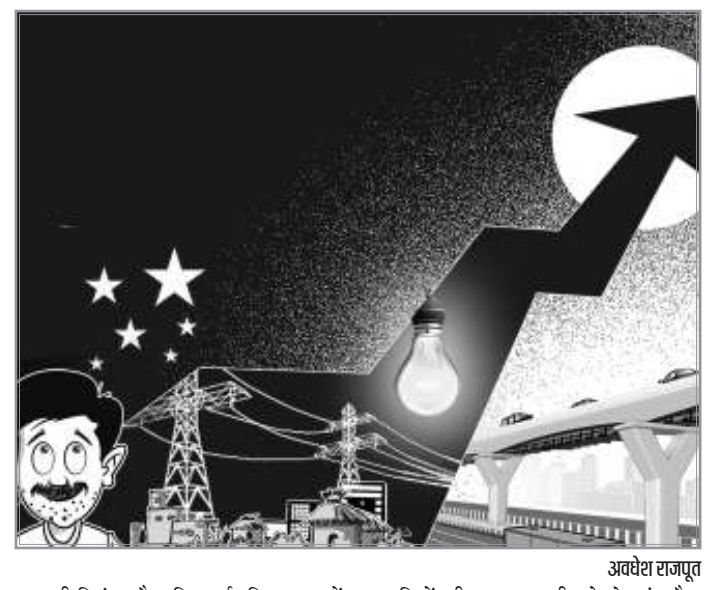

अवधेश राजपूत

मोदी सरकार ने एयर इंडिया का निजीकरण करने का निर्णय लिया है। सार्वजनिक इकाइयों के निजीकरण के विरुद्ध पहला तर्क मुनाफाखोरी का दिया जा रहा है। जैसे ब्रिटिश रेल की लाइनों का निजी कंपनियों द्वारा निजीकरण कर दिया गया। उसमें पाया गया कि रेल सेवा की गुणवत्ता में गिरावट आ गई। रेलगाड़ियों ने समय पर चलना बंद कर दिया। सुरक्षा पर खर्च में कटौती हुई, परंतु रेल का किराया नहीं घटा। इसी तरह के कई अनुभव दक्षिण अमेरिकी देशों में देखने को मिले। निजी कंपनियों ने पानी, बस आदि सेवाओं के दाम बढ़ा दिए, लेकिन सेवा की गुणवत्ता में ह्रास हुआ, परंतु यह समस्या एकाधिकार वाले क्षेत्रों में उत्पन्न होती है। जैसे पाइप से पानी की आपूर्ति का निजीकरण कर दिया जाए तो उपभोक्ता कंपनी की गिरफ्त में आ जाता है। कंपनी द्वारा पानी का दाम बढ़ा दिया जाए तो उपभोक्ता के पास दूसरा विकल्प नही रह जाता है, लेकिन एयर इंडिया प्रतिस्पर्धा वाले बाजार में सक्रिय है। यदि एयर इंडिया के क्रेता द्वारा हवाई यात्रा का दाम बढ़ाया जाता है तो उपभोक्ता दूसरी प्राइवेट एयरलाइन से यात्रा करेंगे। इसलिए नागर विमानन एवं बैंकिंग जैसे क्षेत्रो में निजीकरण का यह दुष्परिणाम उत्पन्न नहीं होगा।

मुनाफाखोरी को रोकने के लिए ही इंदिरा गांधी ने साठ के दशक में बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया था। चूंकि उनके द्वारा आम आदमी को सेवाएं उपलब्ध नहीं कराई जा रही थीं। वे मुख्य रूप से बड़े शहरों में ही शाखाएं खोल रहे थे जहां ज्यादा मुनाफा था। इंदिरा गांधी ने उनका राष्ट्रीयकरण किया जिससे इनके द्वारा आम आदमी को बैकिंग सेवा उपलब्ध हो जाए। ऐसा हुआ भी। 1970 के दशक में बैंकों की पहुंच में भारी विस्तार हुआ, परंतु दूसरी समस्या भी उत्पन्न हो गई। भ्रष्ट बैंक अधिकारियों और जालसाज उद्यमियों की मिलीभगत से सरकारी बैंको ने घटिया लोन दिए जो खटाई में पड़ते गए और देश की संपूर्ण बैंकिंग व्यवस्था आज रसातल में पहुंचती दिख रही है। हम एक गड्ढे से निकले और दूसरी खाई में जा गिरे। इस उद्देश्य को हासिल करने का दूसरा उपाय यह था कि रिजर्व बैंक द्वारा निजी बैंकों के प्रति सख्ती की जाती। उन्हें चिन्हित स्थानों पर शाखाएं खोलने को मजबूर किया जाता और ऐसा न करने पर भारी हर्जाना लगाया जाता जैसे नकद आरक्षित अनुपात आदि नियमों का अनुपालन न करने पर किया जा रहा है। आम आदमी तक बैंकिंग सेवा का न पहुंचना वास्तव में रिजर्व बैंक के नियंत्रण की नाकामी थी। इस बीमारी का सीधा उपचार था कि रिजर्व बैंक के गवर्नर को बर्खास्त कर दिया जाता। रिजर्व बैंक के कर्मचारी ठीक हो जाते तो निजी बैंक भी लाइन पर आ जाते, लेकिन इंदिरा गांधी ने इस सीधे रास्ते को न अपनाकर निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया और अनायास ही उसी बैंकिंग नौकरशाही का विस्तार कर दिया जो कि समस्या की जड़ थी। इंदिरा गांधी के उस निर्णय का खामियाजा हम आज भुगत रहे हैं।

यह सही है कि निजीकरण की आड़ में मुनाफाखोरी हो सकती है, परंतु इसका हल सरकारी नियंत्रण है न कि सार्वजनिक उपक्रमों के सफेद हाथी को ढोना। निजीकरण के खिलाफ दूसरा तर्क सार्वजनिक संपत्ति का औने-पौने दाम पर बेचा जाना है। जैसे ब्रिटिश रेल लाइनों को 1.8 अरब पौंड में बेच दिया गया। खरीदारों ने उन्हीं लाइनों को मात्र सात माह बाद 2.7 अरब पौंड में बेच दिया। अर्थ यह हुआ कि सरकार ने बिक्री कम दाम पर कर दी थी। अपने देश में कोल ब्लाक एवं 2-जी स्पेक्ट्रम के आवंटन में भी इसी प्रकार का घोटाला पाया गया, जिसका सुप्रीम कोर्ट ने संज्ञान लिया। बाद में कोल ब्लाक और स्पेक्ट्रम कई गुना अधिक मूल्य पर बेचा गया। हमारे इस अनुभव से निष्कर्ष निकलता है कि समस्या निजीकरण की मूल नीति में नहीं, बल्कि उसके क्रियान्वयन में है। जैसे सब्जी को तेज आंच पर पकाया जाए और वह जल जाए तो यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सब्जी को पकाना ही नहीं चाहिए।

निजीकरण के विरुद्ध तीसरा तर्क है कि निजी उद्यमियों की आम आदमी को सेवाएं मुहैया कराने में रुचि नहीं होती। 1960 के दशक में बैंकों के निजीकरण के पीछे यही तर्क दिया गया था, लेकिन दूसरे अनुभव इसके विपरीत बताते हैं। दक्षिण अमेरिकी देश अर्जेंटीना ने टेलीफोन, एलपीजी गैस और पानी की सेवाओं का निजीकरण कर दिया। इंटर अमेरिकन बैंक द्वारा कराए गए एक अध्ययन में पाया गया कि निजीकरण के बाद टेलीफोन, गैस और पानी के कनेक्शन की संख्या मे भारी वृद्धि हुई थी। इन सेवाओं की गुणवत्ता में भी सुधार हुआ। भारतीय शहरों में बिजली आपूर्ति के निजीकरण के बाद ऐसा ही अनुभव सामने आया है। गरीब और अमीर के हाथ में नोट का रंग नही बदलता। जहां क्रय शक्ति है वहां निजी कंपनियां पहुंचने को उतारू होती हैं। फिर भी यह सही है कि जहां आम आदमी की क्रय शक्ति नहीं होती है वहां सस्ती सरकारी सेवा का महत्व होता है। जैसे गरीब अक्सर सस्ते सरकारी स्कूल में बच्चे को भेजते हैं, मगर गरीब को सब्सिडी वाली इस सेवा का भारी आर्थिक हर्जाना देना होता है। आज सरकारी अध्यापक औसतन 60,000 रुपये का वेतन उठाते है और उनके द्वारा पढ़ाए गए आधे बच्चे फेल होते हैं जबकि 10,000 का वेतन लेकर प्राइवेट टीचर द्वारा पढ़ाए गए 90 प्रतिशत बच्चे पास होते हैं। सस्ती सेवा के चक्कर में गरीब के बच्चे फेल हो रहे हैं। इस समस्या का हल आम आदमी की क्रय शक्ति में वृद्धि हासिल करना है न कि उसकी सेवा के लिए सार्वजनिक इकाइयों को पालना।

सार्वजनिक इकाइयों के निजीकरण के खिलाफ चौथा तर्क रोजगार का है। यह सही है कि निजी इकाई में रोजगार का हनन होता है। जैसे एयर इंडिया में तीन वर्ष पूर्व प्रति हवाई जहाज 300 कर्मी थे जबकि अंतरराष्ट्रीय मानक लगभग 100 से 150 कर्मचारियों का है। बीते तीन वर्षों में एयर इंडिया ने इस मानक में सुधार किया है। यदि एयर इंडिया का निजीकरण तीन वर्ष पूर्व किया जाता तो निश्चित ही क्रेता द्वारा कर्मियों की संख्या में कटौती की जाती। सच यह है कि मंत्रियों एवं सचिवों के इशारों पर सार्वजनिक इकाइयों में अनावश्यक भर्तियां की जाती हैं जो कि वाणिज्यिक दृष्टि से नुकसानदेह होती हैं। इसलिए निजी क्रेता द्वारा कर्मियों की संख्या में कटौती की जाती है, परंतु यह निजीकरण का केवल सीधा प्रभाव है। कुल रोजगार पर निजीकरण का प्रभाव फिर भी सकारात्मक पड़ता है। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा विकासशील देशो में किए गए निजीकरण के अध्ययन में पाया गया कि इससे सीधे रोजगार का हनन होता है, लेकिन कुल रोजगार बढ़ता है। इस प्रकार देखें तो एयर इंडिया के निजीकरण के विरोध में दिए जा रहे तर्क कहीं टिकते नहीं। सरकार को चाहिए कि इस नीति को सभी सार्वजनिक उपक्रमों पर लागू करे विशेषकर सरकारी बैंको पर।

(लेखक वरिष्ठ अर्थशास्त्री एवं आइआइएम बेंगलूर के पूर्व प्रोफेसर हैं)

response@jagran.com

नेताओं-नौकरशाहों का अनैतिक गठजोड़

प्रेमपाल शर्मा

नौकरशाही के भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने के किए राजनीतिक मूल्यों में भी सुधार की जरूरत है

हाल में कई बेईमान अफसरों के घरों में छापे मारकर नौकरशाही में व्याप्त भ्रष्टाचार पर करारी चोट की गई है। भ्रष्टाचार के इस खेल में इनकम टैक्स, कस्टम से लेकर दर्जनों विभागों के अधिकारी लिप्त पाए गए हैं। इनमें आइएएस अफसर भी हैं। बुलंदशहर की पूर्व डीएम बी चंद्रकला का मामला अभी ठंडा भी नहीं पड़ा था कि अभय सिंह नाम के एक और अधिकारी भ्रष्टाचार के खिलाफ की गई कार्रवाई की जद में आ गए। अभी जांच जारी है फिर भी इन अधिकारियों में कई समानताएं हैं। ये अभी 40 की उम्र तक भी नहीं पहुंचे हैं। इससे पहले कई-कई जिलों के डीएम रह चुके हैं और इन पर आरोप भी खनन माफियाओं को नियम-कानून तोड़कर फायदा पहुंचाने के हैं। दो वर्ष पहले बिहार में तैनात एक प्रशिक्षु आइएएस अधिकारी पर भी ट्रेनिंग के दौरान ही भ्रष्टाचार के आरोप लगे थे। पिछले वर्ष सिविल सेवा परीक्षा के दौरान तो एक अनूठा मामला सामने आया था। केरल कैडर का एक आइपीएस अधिकारी फिर से आइएएस बनने के लिए परीक्षा में बैठा था। वह परीक्षा हॉल में ब्लूटूथ के जरिये नकल करते हुए पकड़ा गया था। यह तो बेईमानी की इंतहा है! भविष्य में ऐसे नौजवानों से नैतिकता की कितनी उम्मीद की जाए जो किसी भी हाल में परीक्षा दुर्ग को तोड़ने में ही सारे मूल्यों को तहस-नहस करने पर उतारू हैं।

पूरे देश के लिए और स्वयं सिविल सेवा परीक्षा के लिए यह एक सबक रहा कि इस अधिकारी ने सिविल सेवा परीक्षा में सामान्य अध्ययन के एक पेपर 'नीतिशास्त्र, सत्यनिष्ठा और अभिवृत्ति' में सबसे ज्यादा नंबर हासिल किए थे। साफ जाहिर है कि दीवारों पर उपदेश लिखना, नैतिक मूल्यों को रखना एक पक्ष है और उन्हें जीवन में उतारना बिल्कुल दूसरा। इसका सबसे दुखद पक्ष यह है कि जब देश के करोड़ों नौजवान ऐसी अनैतिक लिप्सा से घिरे हों तो देश का भविष्य क्या होगा? ऐसा नहीं की है ये अभी की अनोखी घटनाएं हैं। 1964 में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक अमेरिकी पत्रकार से बातचीत में स्वीकार किया था कि मैं जिन कामों को नहीं कर पाया उनमें नौकरशाही में सुधार भी शामिल हैं। याद कीजिए उन दिनों की नौकरशाही की तारीफ यदा-कदा होती रही है, लेकिन बावजूद इसके उनमें उपनिवेशी संस्कार इस हद तक कूट-कूट कर भरे हुए थे कि वे बदलती सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों में कई बार रोड़ा अटकाते थे। 1960 के दशक में ही संथानम कमेटी नौकरशाही में भ्रष्टाचार दूर करने और दूसरे सुधारों के लिए बनी थी। केंद्रीय सतर्कता आयोग और दूसरी संस्थाएं भी लगातार इस दिशा में सक्रिय रही हैं। लोकपाल का गठन भी इसी कड़ी का हिस्सा है, लेकिन अंजाम वही ढाक के तीन पात वाला है। सवाल है कि क्या सिर्फ नौकरशाही ही ऐसे भ्रष्ट आचरण के लिए जिम्मेदार है? नौकरशाही सरकार के तीन स्तंभों में से एक कार्यपालिका का हिस्सा है, जिसके शीर्ष पर मंत्री होता है। क्या बिना मंत्री के सहयोग के भ्रष्टाचार संभव है? हाल में उत्तर प्रदेश के जिन अधिकारियों पर अंगुली उठी है उनके सीधे-सीधे संबंध तत्कालीन सत्ता प्रतिष्ठान से रहे हैं। हो सकता है कि ये अधिकारी राजनीतिक दबाव के चलते अनुचित कार्यों में भागीदार बने हों। यह ध्यान रहे कि कुछ अधिकारी हरियाणा के पूर्व मुख्यमंत्री ओम प्रकाश चौटाला के साथ जेल में हैं तो कुछ चारा घोटाले में दोषी करार दिए गए लालू प्रसाद के साथ।

यह एक दुखद पक्ष यह है कि अरबों रुपये के घोटाले उन योजनाओं में ज्यादा हुए जिन्हें सामाजिक उत्थान, गरीबी उन्मूलन, स्वास्थ्य, शिक्षा के लिए लागू किया गया था। हालांकि संजीव चतुर्वेदी, अशोक खेमका जैसे कुछ अधिकारी तबादले की परवाह न करते हुए भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठाते रहे हैं, लेकिन उनसे कई गुना ज्यादा भ्रष्टाचार में लिप्त रहे हैं। उम्मीद की गई थी कि सूचना प्रौद्योगिकी और सूचना के अधिकार के बाद भ्रष्टाचार पर लगाम लगेगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। यदि वर्ष 2005 की ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल की रिपोर्ट से तुलना करें तो मामूली सुधार जरूर हुआ है। आज हम दुनिया के 180 देशों में भ्रष्टाचार के मामले में 78वें नंबर पर हैं, मगर दक्षिण एशियाई देशों में अभी भी सबसे भ्रष्ट हैं। 2009 की एक रिपोर्ट के अनुसार भारतीय नौकरशाही से काम निकलवाना सबसे मुश्किल है। नौकरशाही में भ्रष्टाचार रोकने के लिए समय-समय पर सरकारें कुछ कदम उठाती भी रही हैं, लेकिन आधे-अधूरे मन से। 1993 में पूर्व गृह सचिव एनएन वोहरा समिति ने भ्रष्ट नेताओं और नौकरशाहों के अनैतिक गठजोड़ को रेखांकित किया था। इसी को आधार मानकर 1997 में सुप्रीम कोर्ट ने सरकार से कुछ कदम उठाने के लिए भी कहा था। कई सामाजिक संगठन भी बार-बार आवाज उठाते रहे हैं। सूचना का अधिकार सरकारी भ्रष्टाचार से लड़ने का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस संबंध में भ्रष्टाचार निवारण कानून भी संसद पास कर चुकी है, लेकिन भ्रष्टाचार है कि रुकने का नाम नहीं ले रहा। दरअसल इसका मुख्य कारण है राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी। उस राजनीति में इच्छाशक्ति आ ही नहीं सकती जिसके तमाम सदस्य किसी न किसी तरह के भ्रष्ट आचरण में लिप्त हों। यही कारण है कि चाहे उन्हें मंत्री बनने के बाद अपना निजी सचिव चुनना हो या जिले का डीएम या पुलिस कप्तान, वे उस अधिकारी को चुनते हैं जो उनकी जी हजूरी कर सके। आजादी के बाद यह प्रवृत्ति लगातार बढ़ रही है। तमाम नौकरशाह ऐशोआराम और वैभव की जिंदगी जीने के लिए सिविल सेवाओं में आ रहे हैं। लाखों की कोचिंग और कई-कई साल तैयारी करने के बाद उनका कहना होता है कि हमें ठाठ से रहना है, चाहे उसके लिए कुछ भी करना पड़े।

भ्रष्टाचार पर रोक लगाने के कदमों के तौर पर सिविल सेवा परीक्षाओं में नैतिक मूल्यों का एक पेपर शामिल करना कहीं से भी फायदेमंद नहीं रहा है। क्या कोई भी ऐसे प्रश्नों के उत्तर से सदाचारी बन सकता है? क्या दीवारों पर लिखे उपदेश नैतिक मूल्य दे सकते हैं? जब शिक्षा व्यवस्था ही नकल और उड़ाए हुई शोध के खंभों पर टिकी हो, जहां चुनाव के लिए करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हों और जहां हर बात को जाति और संप्रदाय के चश्मे से देखा जाता हो वहां नौकरशाही में सुधार लाना बहुत टेढ़ी खीर है। निश्चित रूप से नौकरशाही के साथ-साथ राजनीतिक मूल्यों में भी एक बड़ी सर्जरी की जरूरत है। उम्मीद की जानी चाहिए कि नई मोदी सरकार अपने इरादों में सफल होगी।

(लेखक रेल मंत्रालय में संयुक्त सचिव रहे हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

वाणी

हृदय की इच्छाओं, भावनाओं, विचारों और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने का प्रमुख आधार वाणी है। वाणी के माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान किया जाता है। मीठी वाणी कल्याण का प्रमुख अमोघ अस्त्र-शस्त्र है। वाणी के माध्यम से किसी को खुश और प्रसन्न किया जा सकता है तथा उन्हें नाराज करके रुलाया भी जा सकता है। वाणी मनुष्य के जीवन का सौंदर्य है। ईश्वर ने किसी मनुष्य को सुंदर शरीर और चेहरा दिया हो, लेकिन वाणी रूपी यंत्र की शक्ति नहीं दी हो तो उसका जीवन नीरस, बेकार, मृतप्राय हो जाता है। वाणी के माध्यम से हम किसी को अपना मित्र भी बना सकते हैं और दुश्मन भी। वाणी की शक्ति से मनुष्य संसार में विजय का परचम लहरा सकता है और दीन-हीन भिखारी का जीवन भी जी सकता है, लेकिन उसे वाणी को अभिव्यक्त करने की अद्भुत कला मालूम होनी चाहिए।

मीठे वचन से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और कठोर वचन से मित्र शत्रु बन जाते हैं। वाणी के चार प्रकार हैं। परा, पश्यंति, मध्यमा, बैखरी। मनुष्य अपने मन एवं हृदय की बातों को व्यक्त करने के लिए वाणी रूपी यंत्र का प्रयोग करता है। संत-महात्मा अपनी ओजस्वी वाणी से लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को अपना बना लेते हैं। अक्षर, शब्द, वाक्य वाणी के द्वारा ही व्यक्त किए जाते हैं। कटु वाणी वाण से भी घातक, शक्तिशाली, पीड़ादायक और विनाशकारी होती है। वहीं मीठी वाणी बोलकर किसी व्यक्ति को वर्षों के लिए प्रसन्न किया जा सकता है, अपना बनाया जा सकता है। किसी क्रोधी व्यक्ति का क्रोध शांत किया जा सकता है। कटु वाणी हृदय में वर्षों तक कांटे की तरह चुभन-वेदना का आभास कराती रहती है।

ऐसे में वाणी तौलकर बोलनी चाहिए। जिस वाणी को बोलना हो, उसका परिणाम पूर्व सोचकर बोलने में ज्यादा अच्छा होता है। वाणी का संयम और नियंत्रण आवश्यक है। वाक्पटुता बहुत बड़ी कला है। कहा भी गया है कि बिना विचारे जो कहे या जो करे, वो पाछे पछताए। वाणी के द्वारा व्यक्ति लोगों के हृदय को छू लेते हैं और वे प्रेम में जान देने को तैयार रहते हैं। मीठी वाणी वशीकरण मंत्र के समान होती है। इससे व्यक्ति मोहित हो जाता है। मीठी वाणी से संसार को जीता जा सकता है।

मुकेश ऋषि

बड़ा बनने की चाहत

फिर से

हर वर्ग में बड़े होने की होड़ मची है, लेकिन बड़े होने का उत्तरदायित्व किसी के पास नहीं है

हम बड़े हैं, हम बड़े हैं यही तो! फोर्ड गाडी का विज्ञापन देखा ही होगा। सदियों से हमारी रग-रग में बसा है कि हम बड़े हैं। कोई उम्र से बड़ा है, कोई ज्ञान से बड़ा है, कोई पैसे से बड़ा है और कोई जाति से बड़ा है। बड़े होने का बहाना हर किसी के पास है। इस दौर में राजनेता कहते हैं कि हम बड़े हैं, इस पर कानून के पहरेदार कहते हैं कि हम बड़े हैं। इन सबको पीछे धकेलते हुए पत्रकार कहते हैं कि हम बड़े हैं। जनता तो सबसे बड़ी है ही। बड़े होने का दर्प सभी को है, लेकिन बड़े होने का उत्तरदायित्व किसी के पास नहीं है। मैं टीवी पर डीडी समाचार के अतिरिक्त कुछ नहीं देखती हूं। जागते रहो जैसी सनसनी फैलाने वाले समाचार बरसाती नालों की तरह होते हैं। कुछ दिन उफनते हैं फिर मिट्टी में मिल जाते हैं, लेकिन अपनी गंदगी का प्रभाव छोड़ जाते हैं। मीडिया जगत केवल यह सिद्ध करने में लगा है कि हम बड़े हैं, हमारे पास शक्ति है, हमारी गाड़ी बड़ी है, हमें सारे अधिकार प्राप्त हैं।

सदियों से इस देश की सबसे बड़ी समस्या यही रही है। हर वर्ग में बड़े होने की होड़ मची है। कोई ना कोई किसी ना किसी से बड़ा बन रहा है और नीचा दिखाने की मारकाट मचाने की जिद पर अड़ा है। अब तो सोशल मीडिया भी बड़ा बनता जा रहा है। अपना बड़प्पन दिखाने के स्थान पर बड़े होने की जिद इसे भी सवार है। किस समाचार को कितना दिखाना, कितनी प्रतिक्रिया करना, सोशल मीडिया भी भूलता जा रहा है। लग रहा है कि दो गाड़ियों की रेस है, दोनों एक-दूसरे से आगे निकल जाने की होड़ में हैं। एक गाड़ी दूसरी को कट मारकर आगे निकल जाती है तो दूसरे का बंदा चिल्लाता है कि वह कैसे हमें कट मार गया, हम बड़े हैं, उसे तू ने कैसे आगे निकलने दिया? बस हम भी ऐसे ही लगे हैं। तभी दूसरा विज्ञापन आता है, गाड़ी वाला घायल व्यक्ति को उठाकर गाड़ी में बैठाता है। हम घायल को वहीं छोड़ रहे हैं। समाज की समस्या का समाधान कैसे हो, कोई नहीं सोच रहा है। बस बड़ा कौन है, सब यही सिद्ध करने में लगे हैं।

आजादी के बाद कुछ लोगों ने बड़े होने का सर्टिफिकेट जारी करवा लिया। धीरे-धीरे वे किनारे होने लगे, बस सारा उत्पात यहीं से शुरू हुआ। क्या देश और क्या विदेश, एक ही राग गाया जा रहा है कि देश बर्बाद हो रहा है। 20 करोड़ अल्पसंख्यकों पर जुर्म हो रहे हैं! 10 साल तक देश में एक अल्पसंख्यक प्रधानमंत्री था और उन्हें चलाने वाला भी अल्पसंख्यक ही था, फिर कैसे अत्याचार हो गया?

भारत में एक अल्पसंख्यक वर्ग के प्रति अत्याचार की बात करने वाले यह नहीं समझा पा रहे हैं कि दुनिया में इतने मुस्लिम देश होते हुए भी रोहिंग्या और बांलादेशी भारत में ही शरण क्यों लेना चाह रहे हैं? यहां अत्याचार है तो शरण क्यों? हमने चूहों के लिए बिल्ली पाली, अब बिल्ली के लिए कुत्ता पाल रहे हैं। लोकतंत्र की रक्षा के लिए जज बिठाए, फिर मीडिया बनाया, लेकिन ना जज न्याय दे पाए और ना ही मीडिया तटस्थ रह पाया। अब सोशल माडिया के रूप में एक और रक्षक तैनात किया है, लेकिन वह भी अराजकता फैलाने में माहिर हो गया है। सब बड़े बन गए हैं, लेकिन दुख की बात है कि कोई बड़प्पन नहीं दिखा रहा है।

(अजित गुप्ता का कोना ब्लॉग से साभार)

मेलबाक्स

विज्ञान को मिले बढ़ावा

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) के तेजी से आसमान की ओर बढ़ते कदमों पर प्रकाश डालते हुए सृजन पाल सिंह ने चांद को छूने की नई चाहत शीर्षक से लिखे अपने लेख में इसरो की उपलब्धियों का जिक्र किया है। भारत के लिए बहुत गर्व की बात है कि इसरो चंद्रयान-2 मिशन शुरू करने जा रहा है। यह दिखाता है कि भारत के वैज्ञानिक दुनियाभर के देशों के वैज्ञानिक से कम नहीं हैं। इससे यह भी पता चलता है कि भारत में प्रतिभाओं की कमी नहीं है, लेकिन उन्हें तराशने के लिए हमारी सरकारें बहुत ज्यादा गंभीर नहीं दिखाई दे रही हैं। बहुत से भारतीय मूल के वैज्ञानिक दूसरे देशों में जाकर अद्भुत उपलब्धि हासिल कर रहे हैं। अगर सरकारें देश में विज्ञान की पढ़ाई के लिए माहौल तैयार करें और शिक्षण संस्थानों को पर्याप्त संसाधन उपलब्ध कराएं तो भारत को तकनीकी के लिए दूसरे देशों का मुंह नहीं ताकना पड़ेगा। आज युवा विज्ञान की पढ़ाई करने में रुचि इसलिए भी नहीं दिखाते हैं, क्योंकि उन्हें यह उम्मीद नहीं होती कि विज्ञान की पढ़ाई करने के बाद उन्हें आगे बढ़ने या फिर विज्ञान के क्षेत्र में कुछ नया कर दिखाने का मौका मिलेगा। ऐसे में आज जरूरत इस सोच को दूर करने की है। अगर सरकारें विज्ञान की पढ़ाई को देश में दुरुस्त करने के लिए गंभीरता दिखाएं तो हमारा देश विज्ञान के क्षेत्र में काफी प्रगति कर सकता है।

राजेश कुमार चौहान, जालंधर

संजीदगी पैदा करतीं फिल्में

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा था, लेकिन आज सिनेमा समाज का दर्पण बनकर उभरा है। वर्तमान में जब सामाजिक सरोकार से जुड़े मुद्दे मुख्यधारा की मीडिया से दूर नजर आते हैं और उनके द्वारा खाली किए गए स्थान को तमाम झगड़ों ने भर दिया है, ऐसे समय में आर्टिकल 15 और सुपर 30 जैसी फिल्में सूखे से जूझ रही धरती को बरसात जैसा सुकून देती हैं। यह महज फिल्में नहीं हैं, यह एक लड़ाई है जो सदियों से लड़ी जाती रही है। बस इस लड़ाई को बड़े पर्दे पर ला दिया गया है जिसे लड़ते हुए न जाने कितने नायक जमींदोज हो गए और निर्लज्ज समाज ने उनकी लाशों के ऊपर 21वीं सदी के भारत की इबारत गढ़ दी। जातिवाद की समस्या इतनी बड़ी समस्या है कि गंभीरता से इस मुद्दे पर विचार मात्र करने से मन व्यथित और प्रश्नाकुल हो जाता है। हम कैसे समाज में जी रहे हैं? कुछ ऐसी ही समस्याओं की चर्चा करती हुई फिल्म आर्टिकल 15 समाज की एक कड़वी सच्चाई को हमारे सामने रखती है और हमारे अंदर कोलाहल करते हुए कुछ प्रश्नों के अंकुर फोड़ देती है। वहीं सुपर 30 शिक्षा माफिया का जिक्र करते हुए शिक्षा जैसी पवित्र चीज में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर करते हुए हमें यह संदेश देती है कि अब राजा का बेटा राजा नहीं बनेगा, बल्कि वो बनेगा जो हकदार होगा। शिक्षा में बाजारवाद किस तरह हावी है यह फिल्म इसे समझने की कोशिश करती है। ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर फिल्म बनाने के साहस के लिए इनके निर्माताओं और निर्देशकों की सराहना होनी चाहिए और हमें भी अपनी व्यस्त जिंदगी से कुछ समय निकालकर इन्हें देखना चाहिए। नारों और भाषणों के बीच वैसे भी मुद्दे और समाज हाशिये पर आ गए हैं। ऐसी फिल्में